2021 Q2

IMPACT FACTOR IIFS - 5.875 ISSN-2278-3911

97

# SHODH-PRAKALP

A Quarterly Research Journal

# शोध-प्रकल्प

त्रैमासिक रिसर्च जर्नल

A Peer Reviewed Research Journal

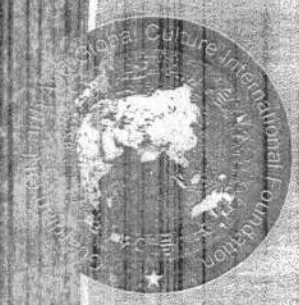

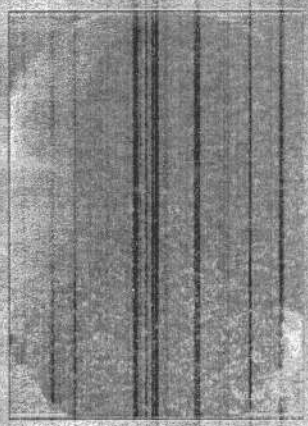

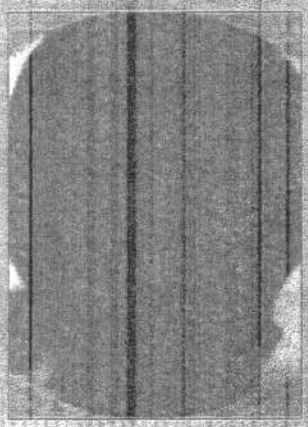

Editor
Dr. Sudhir Sharma
Guest Editor
Dr. Sandeep Awasthi

मुख्य संपादक

Volume XCVII
Oct-Dec- 2021

## विशेष अंक

नई शिक्षा नीति के संदर्भ में शोध के विषय और उसकी अवधारणा

MPHIN/1997/2224

IMPACT FACTOR IIFS-5.875 AND GIF 2.3409

ISSN 2278-3911

अंक : 97 वर्ष : 28 संख्या : 4 अक्टुबर-दिसंबर,2021

# SHODH-PRAKALP

A Peer Reviewed Refereed Quarterly Research Journal

# शोध-प्रकल्प

त्रैमासिक रिसर्च जर्नल

( विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत )

www.shodh-prakalp.com

संपादक

डॉ. सुधीर शर्मा

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,

कल्याण स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भिलाई नगर जिला- दुर्ग ( छ.ग. )

अतिथि संपादक

डॉ. संदीप अवस्थी

आलोचक एवं मीडिया विशेषज्ञ

अजमेर, राजस्थान

■ शोध एवं अनुसंधान विकास केंद्र, रायपुर का प्रकाशन

■ RESEARCH & RESEARCH DEVELOPMENT CENTRE, RAIPUR

■ अंतरराष्ट्रीय मानक मान्यता प्राप्त बहुप्रसारित भारत के अनेक विश्वविद्यालयों में मान्य शोधपत्रिका

Volume XCVII Number 4 Oct-Dec. 2021

U.G.C. NO. 63535(OLD LIST) email :shodhprakalp@gmail.com

SHODH-PRAKALP
A Peer Reviewed Refereed Quarterly Research Journal ISSN 2278-3911

अंक : 97 वर्ष : 28 संख्या :4 अक्टुबर-दिसंबर,2021

## INDEX


| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | जल और जीवन, साहित्य में नवाचार शिक्षा | डॉ. मनोज शर्मा | 07 |
| 2. | Study of Deregulations and its Impact on highly Competitive Banking Industry in the dynamic Financial Environment | DR. MANOJ KUMAR AGRAWAL | 11 |
| 3. | बस्तर जिले की धुरवा जनजाति के गौर सिंग नृत्य का साहित्यिक सांस्कृतिक अध्ययन | डॉ. योगेन्द्र मोतीवाला<br>डॉ. श्यामा चरण ओग्रे<br>डॉ. राजेन्द्र सिंह, इन्द्रो टेकाम | 13 |
| 4. | Ganga: The Lifeline of India, with special reference to Education | Dr Lata Chandola | 16 |
| 5. | संत नामदेव : व्यक्तित्व एवं विचारधारा | डॉ. अशोक आनंदराव साळुंखे | 20 |
| 6. | Citizenship (Amendment) Act 2019: an Evaluation | GARIMA SHUKLA | 23 |
| 7. | मालवा की चित्रकला में श्री डी. डी. देवलालीकर का | प्रोफेसर डॉ. रश्मि जोशी, नेहा अवस्थी | 26 |
| 8. | वर्तमान समय : भाषा एवं साहित्य | डॉ. मो. मजीद मियाँ | 28 |
| 9. | हिन्दी एवं मराठी दलित कहानियों में प्रतिरोधी चेतना | डॉ. वृषाली मांद्रेकर, विप्रा जनार्दन राऊल | 32 |
| 10. | भारतीय संस्कृति में लोक कवि घाघ और भड्डरी का महत्त्व | डॉ. निरुपम शर्मा | 34 |
| 11. | असाध्यवीणा : रहस्यवाद और अज्ञेय की सम्प्रेषण कला का विराट समन्वय | सुमित उपाध्याय | 37 |
| 12. | जामिनी राय के चित्रों सृजनात्मक एक अध्ययन | डॉ. कीर्ति सिंह ठाकुर, तृप्ती पोरवाल<br>डॉ. रश्मि जोशी | 39 |
| 13. | मृणालिनी मुखर्जी के मूर्तिशिल्पों में स्वेदशी प्रभाव | डॉ. बिन्दु अवस्थी, अन्जली भारद्वाज | 41 |
| 14. | बिहार की शिक्षा, शिक्षक, शिक्षालय एवं कोरोना संकट | डॉ. अंजनी कुमार सिन्हा | 43 |
| 15. | निराला का साहित्य समकालीन संदर्भ में | डॉ ऋतु माथुर | 46 |
| 16. | कथा साहित्य और समाज में उभरता किन्नर विमर्श | अमर आनंद आलदे | 49 |
| 17. | श्री गुरु नानक देव जी की सांस्कृतिक विरासत | डॉ. प्रिया शर्मा | 53 |
| 18. | Early Bengal Paintings | Dipto Narayan Chattopadhyay | 56 |
| 19. | प्राचीन एवं आधुनिक भारत में मूल्यांकन पद्धति की तुलनात्मक प्रासंगिकता | डॉ. सिद्धार्थ शुक्ला | 59 |
| 20. | लोककला का सामान्य परिचय | डॉ. रश्मि जोशी, ऋचा सिंह चंदेल | 63 |
| 21. | घर के रंगों का मन : स्थिति पर प्रभाव | डॉ. (श्रीमती) बिन्दु अवस्थी | 65 |
| 22. | जैन धर्म में तीर्थंकर | डॉ. (श्रीमती ) लक्ष्मी श्रीवास्तव<br>श्रीमती स्वाती एम. जैन | 67 |
| 23. | लोकतंत्र में रामकाव्य का महत्व | डॉ. जाधव रविंद्र श्रीराम | 71 |
| 24. | भील जनजातीय कलाकारों के चित्रों की समीक्षा–एक अध्ययन | डॉ. (श्रीमती) अर्पणा अनिल,<br>कु. टीनू बाला, डॉ. (श्रीमती) रश्मि जोशी | 73 |
| 25. | सभ्यता और संस्कृति के सम्मुख वैश्विक चुनौतियाँ | डॉ. श्रीकांत बी. संगम | 76 |
| 26. | तलाक, लिवइन बनाम शादी संस्था : एक सौन्दर्यपरक अध्ययन | डॉ संदीप अवस्थी | 78 |
| 27. | आलोचना का सौंदर्यशास्त्र और कलात्मक संवेदन | डॉ. जूही शुक्ला | 82 |


www.shodhprakalp.com

टीप : शोध-प्रकल्प में प्रकाशित शोधपत्रों और आलेखों में व्यक्त विचार या तथ्यों से संपादक /संपादक मंडल की सहमति अनिवार्य नहीं है उनके लिए लेखक ही उत्तरदायी हैं। शोधपत्रों में पुनरावृत्ति अथवा मौलिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं।

IMPACT FACTOR IIFS-5.875 AND GIF 2.3409 U.G.C. NO. 63535(OLD LIST)

www.shodh-prakalpresearch.com

SHODH-PRAKALP
A Quarterly Peer Reviewed
Refereed Research Journal

ISSN 2278-3911

# कथा साहित्य और समाज में उभरता किन्नर विमर्श

अमर आनंद आलदे
सहायक प्राध्यापक,
नवगन कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, परळी वैजनाथ,
जिला बीड़, महाराष्ट्र

बस सस्ती प्रसिद्धि के चलते कुछ शब्दों को हम अलंकारिकता से जोड़ शोधालेख लिखकर सहानुभूति तो प्राप्त कर लेते मगर इससे समाज में कहाँ तक परिवर्तन होगा यह एक यक्ष प्रश्न ही उपस्थित करता है। शायद समाज की मानसिकता में किन्नर विमर्श बेहद अपरिपक्व तथा पूर्वग्रह अवस्था में हैं। लेखक को चाहिए कि सच्चे मन से उनकी पीड़ा को समझ समाज में इनके प्रति संवेदना को जगाएं तभी सुधि समाज उन्हें स्वीकारने में संकोच नहीं करेगा। आखिर बूंद–बूंद ही से तो सागर बनता है।

हिंदी साहित्य ने किन्नर विमर्श को लेकर शंखनाद तो कर दिया है जिसके चलते इन पर कहानी, उपन्यास, आत्मकथा, तथा कविताएँ लिखी जा रही है। सुधी पाठक वर्ग इन सारी कृतियों को पढ़ तो लेता है उनसे सहृदय जुड़ने का मन भी बना लेता है, लेकिन जब सत्य का सामना करने का समय आता है चार कदम पीछे हट जाता है। यहाँ चाहिए होता है कि वह दो कदम आगे बढ़कर पहल करें और अपने भीतर बसी मानवता का परिचय दें। पर इतना बड़ा साहस कोई बिरला ही कर सकता है, यह हर एक मनुष्य के बस की बात नहीं। किन्नरों पर लिखें साहित्य को देखने के पश्चात पता चलता है किय इनके साथ अन्याय हो रहा है,उन्हें घृणित नजरों से देखा जाता है, उनका तिरस्कार किया जाता है, इस तरह से समाज द्वारा उन्हें पीड़ित किया जा रहा है, मुख्यधारा से हटाया जा रहा है और अंत में परिवार का साथ ना मिल पाने के कारण उन्हें किन्नर कम्युनिटी ज्वाइन करने के लिए विवश होना पड़ता है।

परिवर्तन होगा अगर समाज में किन्नरों को थोड़ा थोड़ा प्यार मिलने लगे तो वह दिन दूर नहीं वे मुख्यधारा से जुड़ अन्य लोगों की भांति अपने मानवाधिकारों के साथ जीवन यापन कर सकेंगे। इसी साधुवाद के साथ हम यहाँ 'कथा साहित्य और समाज में उभरते किन्नर विमर्श' को साहित्य की विधाओं के साथ जोड़कर देखने वाले हैं।

'मैं लक्ष्मी मैं हिजड़ा' प्रस्तुत आत्मकथा के माध्यम से लक्ष्मी नारायण त्रिपाठी' ने अपने वजूद को पहचाना, अनुभव किया और उसे कागज पर भी उतारा। लक्ष्मीनारायण एक पुरुष के लिंग में जन्मा किन्नर है। इसी अनुभव को वह समाज के सामने, समाज द्वारा ठुकराए गए ऐसे कई किन्नरों का प्रतिनिधित्व करता नजर आता है।

'किन्नर' या 'थर्ड जेंडर' इस समूह की पहचान हमें आज–तक फिल्मों में नाच–गाना करते तथा रेलवे या ट्राफिक पर ताली बजा कर पैसे मांगने वालों के रूप में हुई है, जो साड़ी पहने हुए मर्दों के समान नजर आती है। पर जब लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी कि 'मैं हिजड़ा मैं लक्ष्मी' आत्मकथा पढ़ने के पश्चात इनके समूचे समूह के प्रति जो घृणा का भाव स्थित था वह एक सम्मान में परिवर्तित हुआ। कौन, कहां, किसके घर, किस जाति, किस पंथ, किस धर्म, किस वर्ग में पैदा हो यह हमारे हाथ में नहीं है। वैसे ही 'किन्नर' बनना प्रकृति की नियति का एक हिस्सा है, जो पैदा तो मर्द की पहचान से होता है पर जैसे–जैसे वह बड़ा होने लगता है वैसे उसमें स्त्रीत्व के गुण जागृत होने लगते हैं। इतना ही नहीं उसका बर्ताव भी स्त्री की तरह ही होने लगता है। जैसे– रहन–सहन, बातचीत का ढंग, पुरुष की ओर आकर्षण आदि। मैं जानना चाहूँगा कि इसमें इन लोगों की क्या गलती है? वह भी हमारी तरह ही किसी मां–बाप की संतान हैं, किसी का भाई है, या समाज का वह हिस्सा है जिसे समाज से अलग करने का अधिकार किसी भी स्त्री या पुरुष को नहीं है। लेकिन लैंगिक भिन्नता के कारण इन्हें समाज से बहिष्कृत किया गया है। मानवता के विचार से देखाजाए तो मनुष्य जाति पर यह सबसे बड़ा कलंक है,जो अपनी ही बिरादरी के एक वर्ग पर अन्याय करता नजर आता है। प्रस्तुत आत्मकथा की 'लक्ष्मी' ने समाज के अन्यायकारी नियमों का डटकर प्रतिरोध किया और अपनी एक अलग पहचान स्थापित की। वह बस इतना चाहती है कि हिजड़ा पहचान के साथ ही एक मानव होने तथा मानवीय क्षमताओं को बिना किसी भेदभाव के स्वीकार करें। क्या इस आग्रह को

सम्मान पूर्वक स्वीकारा जाएगा ? इसका जवाब यह आत्मकथा देगी यहाँ तक कि स्वयं लक्ष्मी इस बारे में हिजड़ा समुदाय से कहती है– 'इन हिजड़ों से मैं बार–बार कहती हूँ, समाज का जो हमें देखने का नजरिया है उसके लिए हम भी जिम्मेदार हैं। समाज में घुल मिल जाओ, उनसे बात करो फिर देखो यह नजरिया बदलता है या नहीं।"[1] कहते हैं ताली एक हाथ से नहीं बजती उसी तरह दोनों ओर से यदि प्रयास हो तो संभावनाएँ बढ़ जाती है।

'दाई' हिजड़ों द्वारा स्थापित हिजड़ों के लिए काम करने वाली ऐसी संस्था थी जो भीख मांग कर तथा धंधा करके जीने वाले किन्नरों में जागरूकता लाने का काम करती थी। अर्थात किन्नरों की बस्ती में जाना, उनसे मिलना, यौन संबंध, एच.आई. वी.( एड्स ) के बारे में जानकारी देना, कंडोम के सही इस्तेमाल को लेकर प्रशिक्षित करना, आदि सारे कामों में 'दाई' अग्रसर थी जिसमें लक्ष्मी का बड़ा योगदान रहा। 'दाई' के माध्यम से लक्ष्मी को बहुत कुछ सीखने को मिला, ढेर सारे अनुभव मिले। इसी सिलसिले में एकदिन लक्ष्मी 'कामाठीपुरा' जाती है और वहाँ के जीवन के बारे में, सेक्स वर्कर्स के बारे में, उनकी जिंदगी के बारे में जानकर पूरी तरह हिल जाती है। जिसका वर्णन यहाँ किया गया है जैसे– वहाँ के वो छोटे– छोटे कमरे... अँधेरे... ना हवा, ना उजाला... उसमें खड़े किए गए पार्टीशन्स... उन छोटे कमरों में और भी कुछ छोटे कमरे हो सकते हैं, ऐसा हम सोच भी नहीं सकते, पर यहाँ उन्होंने बनाए थे। सडियल, दम घोटने वाले. ये लड़कियाँ, ये औरतें कैसे रहती है यहाँ ? सेक्स कैसे कर सकती हैं ? सेक्स जैसी खुशी के लिए की जाने वाली चीज. एन्जॉय करनेवाली चीज... धीरे–धीरे करने वाली चीज... और ये ऐसे माहौल में? ठीक से हिल भी नहीं सकते इतनी सी जगह में? ठीक है, ये उनके लिए रोज की बात थी, वो यह सब पेट के लिए करती है... एहसासों की उनके सेक्स में कोई जगह नहीं रही... फिर भी... सरकारी नौकरी भी बाबू लोग पेट के लिए ही करते हैं ना? तो उनके ऑफिस ऐसे सडियल दम घोंटनेवाले होंगे तो चलेगा क्या?[2] यहाँ लक्ष्मी किन्नरों की मूल समस्या को लेकर उजागर हुई है और वह समस्या है उपजीविका की। पेट भरने के लिए काम चाहिए जिससे दाम मिलते हैं और दाम ही से सारे काम आसान हो जाते हैं। सभ्य समाज ने इन्हें नकारा, इन्हें हाशिए पर रखा यही वजह रही कि इन्हें सेक्स वर्कर्स बन अपना शरीर बेचना पडा। यहाँ आनेवाला ग्राहक निचले तबके से लेकर प्रतिष्ठित वर्ग तक का नजर आता है, कोई छिपकर यहाँ–वहाँ देख कर तो कोई बिंदास आता है। आखिर यही वे लोग है दुनिया के सामने प्रतिष्ठित कहलाते हैं, इनके विचारों से वेश्यावृत्ति किस तरह अनैतिक है इस तरह लोगों के सामने अपनी विद्वत्ता के झंडे गाड़ते है और रात के अंधेरे में वही अपना मुँह काला करने इन्हीं वेश्याओं के बिस्तर में आश्रय पाते हैं क्या इन समाज के ठेकेदारों का यह दायित्व नहीं बनता कि इन वेश्याओं की फिक्र करें, ये जिन गंदी बस्तियों में वास्त करती है, दम घुटने वाले घरों में रहती है और वहीं अ ग्राहकों के साथ सेक्स करती है। जबकी सेक्स आनंद वाली भावना है पर कामाठीपुरा का सेक्स पेट के लिए है आ के लिए नहीं।

किन्नर विमर्श की कहानियों की बात करें तो 'गरि संजय दुबे' की कहानी 'पन्ना–बा' किन्नर विमर्श को लेकर स सशक्त कहानी है। प्रस्तुत कहानी में किन्नरों की दयनीय स्थि का, उन पर होते अन्याय, शोषण का बड़े ही मार्मिकता के सा वर्णन हुआ है। वे जब जीवित होते हैं तब भी समाज द्व प्रताड़ित होते हैं और मरणोपरांत भी उनके शवों को जूतों पीटकर उनकी अवहेलना की जाती है। जैसे– "किन्नर मौत पर उसकी लाश की जूतों से पिटाई की खबर पढ़ ही थी कि पता चला पन्ना– बा मर गया।"[3] आम लोगों की किन्नरों में भी कई मान्यताओं को देखा जा सकता है कहते कि उसकी दुआओं में बहुत असर होता है यही वजह है बच्चे के नामकरण में शादी ब्याह में किन्नरों का आशी लिया जाता है जैसे– "किन्नर की दुआ की कोई होड नहीं उसकी बद्दुआ का कोई तोड़ नहीं ।"[4] इस तरह "पन्ना– कहानी केवल किन्नर व्यथा को गढती नहीं बल्कि पाठक सोचने के लिए भी मजबूर करती है।

"जिंदगी 50–50" भगवंत अनमोल का प्रचलित उपन है। जिसमें उन्होंने जिंदगी के दो रंग प्रस्तुत किए हैं। एक बेरंग है जो हर्षा (हर्षिता) पर चढ़ा है जिसे परिवार तथा स ठूकराता है। दूजा रंग उसी परिवार में पैदा हुए किन्नर सूर्या है जिसे परिवार का साथ है, जिसके चलते उसके अनमोल उसे पढ़ा लिखा कर मुख्यधारा से जोड़ने का प्र करते हैं, जिसमें वे सफल होते हैं। यह दूजा रंग वह रंग है हर रंग में समा जाता है। यहाँ हर्षा (हर्षिता) अपने पर अन्याय को लेकर मुखर होती है – "हर्षा से हर्षिता बनना लिए मजबूरी और जरूरतें दोनों थी हर्षा की काया में छटपट होती थी मगर कोई नहीं था जो उसे समझ सकता परि वाले भी नहीं। अम्मा चाहकर भी कुछ नहीं कर सकती कुछ भी नहीं। आखिर इस उहापोह से निकलकर अंततः हर्षि के अस्तित्व में मैं आ ही गई"[5] यहाँ हर्षा (हर्षिता) और सूर्या साथ हुए पारिवारिक संस्कारों से पता चलता है कि जिंद किस तरह आधी पूरी और आधी अधूरी है। अधुरापन दोन था पर एक परिवार उसे नकारात्मक सोच के तहत देखत तो दूसरा सकारात्मक। यही सकारात्मकता हर परिवार में जाए तो वह दिन दूर नहीं कि किन्नर समाज मुख्यधारा का

समाज्य घटक बन जाए। बस समाज ने भी अपना विशाल मन रखते हुए बड़े मन से इन्हें स्वीकारना चाहिए।

सभ्य समाज में किन्नर की स्थिति अत्यंत दयनीय है, लोग उनके साथ अच्छा बर्ताव नहीं होता। हर बार उन्हें जलत की जिंदगी जीने के लिए मजबूर होना पड़ता है। समाज द्वारा किए गए इस प्रकार के दुर्व्यवहार से व्यथित होकर 'किन्नर कथा' उपन्यास के प्रमुख पात्र 'तारा' अपनी बा से अपना दर्द एवं अपनी पीड़ा को व्यक्त करती है – भगवान ने मेरे साथ ऐसा अन्याय क्यों किया? मैं हिजड़ा हूँ तो इसमें मेरा क्या कसूर? मुझ निर्दोष को किस बात की सजा मिल रही है? मेरा अपना कौन है? घर– बार, मां–बाप, भाई– बहन, बच्चे बीवी नहीं है मेरा जिसे मैं अपना कह सकूं, सब कुछ होते हुए भी कोई मुझसे रिश्ता रखना नहीं चाहता, कोई मुझे अपनाने को तैयार नहीं है। बचपन से आज तक बस अपने आप में ही दर्द समेटे हैं, दूसरों को हंसाते आए हैं, उनकी खुशी में शरीक होते आए हैं, आशीष के सिवा कभी किसी को कुछ नहीं दिया, ऊपर से बस एक शिकायत है। आखिर क्यों उसने हमें ऐसा बनाया? क्यों हिजड़ा होने का दंड दिया? काश! हम भी औरों की तरह स्त्री या पुरुष होते, हिजड़ा होना कितनी बड़ी सजा है यह कोई हिजड़ा ही समझ सकता है दूसरा कोई नहीं, कभी नहीं।[7] यहाँ 'तारा' जैसे किन्नरों के प्रति क्या हमारा कोई दायित्व नहीं बनता कि हम उन्हें इस गर्त से बाहर निकाले? आखिर इनका दोष इतना ही है कि वे असामान्य हैं? बस एक अंग सक्रिय ना होने से वह हम लोगों से अलग कैसे हो जाते हैं? यह उनकी प्रकृति है और प्रकृति को झुठलाने का हमें कोई अधिकार नहीं है। आखिर हमारी तरह ही उन्होंने मां की कोख से जन्म लिया है। यहाँ दोषी तो वे मां–बाप होने चाहिए जिन्होंने इन्हें जन्म दिया, मगर अपना सारा दोष वे उस नन्हें शिशु पर डाल देते हैं। इतना ही नहीं लोक लज्जा की खातिर अपनी ही संतान को दर– बदर की ठोकरें खाने के लिए मजबूर कर देते हैं। यहाँ साहित्यकारों, समाज सुधारकों, लेखकों तथा विचारकों पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी है कि वे किन्नरों के प्रति सकारात्मकतावादी दृष्टिकोण अपनाएं तथा समाज में भी इसके बीज बोए ताकि वे अंकुरित होकर एक नवाचार को जन्म दें। जिससे उनकी पीड़ा का अंत हो और उनके जीवन में खुशहाली लौट आएं।

किन्नरों का बाल्यावस्था से युवावस्था में प्रवेश करना उनकी मानसिक दशा को दर्शाता है मन में उठ रहे हजारों प्रश्नों से अंतर द्वंद्व चलता रहता है। प्रदीप सौरभ द्वारा रचित 'तीसरी ताली' उपन्यास का शिनीतश भी इसी दौर से गुजरता है जिसकी छटपटाहट को हम देख सकते हैं– समय बीतने के साथ गौतम साहब के बेटे में लड़कियों जैसे गुण पैदा होने लगे। शारीरिक बदलाव भी प्रखर हो गे। गौतम साहब यह सब देखकर चिंतित थे। विनीत गौतम नाम रखा था उन्होंने अपने बेटे का। विनीत घर से निकलने में कतराने लगा। बाहर निकलता तो उसके साथ खेलने वाले बच्चे भी उससे किनारा कर लेते। वह अजीब मानसिकता से गुजर रहा था। कई–कई हफ्ते घर के अंदर बंद रहता। उसे लगता कि उसके पिता उसे जबरिया लड़का बनाने पर तुले हैं। वह अपनी बहनों की तरह ही अपने को लड़की मानता था। उसे लड़कों के कपड़े पहनने में परहेज होने लगता। घर में जब कोई नहीं होता तो वह अपनी बहनों की पेंटी–ब्रा पहन लेता। बिंदी लगाता। लिपस्टिक लगा था, शीशे में घंटों अपने आप को निहारता।' यहाँ विनीत की किन्नर होने की पीड़ा को ना परिवार के सदस्य समझ सकते हैं न समाज । किन्नरों के प्रति इस प्रकार की सामाजिक अवहेलना अत्यंत दुखद है। इसी टीस को उपन्यास के कवर पेज से सुधीर पचौरी लिखते हैं– सामान्य लिंगी होने के साथ ही समाज के हाशिए पर धकेल दिए गए इनकी सबसे बड़ी समस्या आजीविका है जो इन्हें अंततः इनके समुदायों में ले जाती है। इनका वर्जित लिंगी होने का अकेलापन एक्स्ट्रा है और वही इनकी जिंदगी का निर्णायक तत्व है। अकेले–अकेले बहिष्कृत यह किन्नर आर्थिक रूप से भी हाशिए पर डाल दिए जाते हैं। कल्चरल तरीके से फिक्स कर दिए जाते हैं। यह जीवन शैली की लिंगीयता है जिससे स्त्री लिंगी– पुलिंगी मुख्य धाराएँ हैं जो इनको दबा देती है। नपुंसक लिंगी कहाँ कैसे जिएंगे? समाज का सहज स्वीकृत हिस्सा कब बनेंगे?[8]

किन्नरों के प्रति सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि उन्हें अपना परिवार तथा अपने परिवार के सदस्य ही स्वीकार नहीं करते। जहाँ परिवार ही उनका साथ छोड़ दें तो समाज उसे कैसे स्वीकार कर पाएगा? यहाँ सारी जिम्मेदारी परिवार की है कि उसे अपनाएं, प्यार दें तथा अन्य आम लड़कों की तरह उसका पालन– पोषण करें ताकि उसे यह एहसास ना हो कि वह किसी तीसरी दुनिया से आया है। चित्रा मुद्गल कृत पोस्ट बॉक्स नंबर 203 नाला सोपारा उपन्यास में विनोद एक किन्नर है जो आज किन्नरों के बीच जाकर रहने लगा है। वह अपनी बा का लाडला है, दुलारा है पर परिवार के अन्य सदस्य तथा सभ्य समाज द्वारा ठुकराने पर मजबूरन उसे किन्नरों के साथ रहना पड़ता है, जहाँ की जिंदगी बड़ी ही भयावह थी। इसी आंतरिक पीड़ा को पत्र द्वारा बयां करता अपनी बा से कहता है– मेरी सुरक्षा के लिए कानूनी कार्यवाही क्यों नहीं की तूने, मेरी बा तूने और पप्पा ने मिलकर मुझे कसाईयों के हाथ मासूम बकरी सा सौंप दिया, जिस नरक में तूने और पप्पा ने धकेला है मुझेय वह एक अंधा कुआँ है, जिसमें सिर्फ सांप, बिच्छू रहते हैं। सांप बिच्छू बनकर पैदा नहीं हुए होंगे। बस इस कुएँ ने

उन्हें आदमी नहीं रहने दिया।[9] यहाँ विजय के अस्तित्व को परिवार ने ठुकराया जिसका परिणाम शायद वह भी अन्य किन्नरों की तरह सांप–बिच्छू न बन जाए। आखिर यह सब आदमी बनकर पैदा हुए थे मगर परिवार का साथ न मिल पाने से सांप– बिच्छू बनने को मजबूर हो जाते हैं। अगर इन किन्नरों को परिवार का सामाजिक सहयोग प्राप्त हो तो वे लोग भी स्त्री– पुरुष के साथ कंधों से कंधा मिलाकर चल सकते हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि परिवार का साथ मिलें, शिक्षा मिलें नौकरी में शुभ अवसर मिलें जैसे 'मैं लक्ष्मी मैं हिजड़ा' आत्मकथा में लक्ष्मी के परिवार वालों ने उसे शिक्षित किया, हिजड़ा कमेटी ज्वाइन करने के पश्चात भी उसका स्वीकार किया, यही वजह रही कि लक्ष्मी सामाजिक कार्यों में अग्रसर रही। जो परिवार ऐसे बच्चों का स्वीकार करते हैं स्वाभाविक ही समाज को भी उन्हें स्वीकार ना पड़ता हैं।

किन्नर समाज को सम्मान दिलाना है तो सबसे पहले परिवार के सभी सदस्यों ने इन्हें वे जैसे हैं उसी तरह स्वीकार करना है। उनकी मानसिक दशा को समझना है। उनमें हो रहे शारीरिक परिवर्तन को स्वीकारना है। अपने अन्य पुत्रों की भांति इन्हें सारे अधिकार दिलाने हैं। आखिर माता–पिता का यह परम दायित्व बन जाता हैयक्योंकि वे जन्मदाता हैं। पश्चात समाज ने भी इन्हें उतनी ही उदारता से स्वीकारना होगा, सारे भ्रमों को दूर करना होगा, या यूं कहें स्वयं को उनकी जगह रखते हुए विचार करना होगा कि हम औरों से किस तरह का व्यवहार चाहते हैं, बस उसी तरह का व्यवहार उनसे करें तो हाशिये पर फेंके गए किन्नर समाज को मुख्यधारा में लाना आसान होगा। मगर प्रारंभ 'स्व' से करना होगा बस इतनी ही शर्त है। आखिर हम बदलेंगे तो जग बदलेगा। क्या यह साहस कर पाओगे? उत्तर की प्रतीक्षा में...

**संदर्भ–**


1. त्रिपाठी लक्ष्मी नारायण – मैं हिजड़ा मैं लक्ष्मी, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण– वर्ष 2015, पृष्ठ 08
2. वही –पृष्ठ 63
3. दुबे गरिमा संजय– 'पन्ना–बा', वांग्मय (त्रैमासिक हिंदी पत्रिका), संपा. एम. फिरोज अहमद, जनवरी–मार्च 2017, पृष्ठ 120
4. वही–पृष्ठ 121
5. भगवंत अनमोल– 'जिंदगी 50–50', राजपाल एंड सन्स, प्रथम संस्करण 2017, पृष्ठ 163
6. महेंद्र भीष्म– 'किन्नर कथा', सामयिक प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2016, पृष्ठ 64
7. सौरभ प्रदीप– 'तीसरी ताली', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 82
8. सौरभ प्रदीप– 'तीसरी ताली', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, कवर पेज से
9. चित्रा मुद्गल– 'पोस्ट बॉक्स नं. 203– नाला–सोपारा', सामयिक प्रकाशन, पृष्ठ 11

2021-22

# SARASWATI
## The Research Journal

विशेषांक

साहित्य, सिनेमा और फिल्मांकन

SBES College of Arts and Commerce,
Aurangabad, Maharashtra

Special Issue (2) 2020-21, ISSN 2229 - 5224

# साहित्य समाज और हिंदी सिनेमा

**प्रा. अमर आलदे**
बीड,महाराष्ट्र

हिंदी साहित्य, समाज और सिनेमा की बात की जाए तो इन तीनों का संबंध गंगा, जमुना, सरस्वती सा प्रतीत होता है। जब से सिनेमा का आविष्कार हुआ तब से सिनेमा ने साहित्य और समाज को प्रभावित किया है। या यूं कहे साहित्य ने सिनेमा को प्रभावित किया है। आज सिनेमा को संप्रेषण के प्रमुख साधनों में देखा जाता हैं, जिसके माध्यम से अधिक से अधिक लोगों तक अपनी बात पहुंचाई जा सकती है। साहित्य युगबोध से प्रभावित होता है और तत्कालीन परिस्थितियों को उजागर करता है। साहित्य ही वह माध्यम है जो हमें तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों से रूबरू कराता है। लेकिन साहित्य एक ऐसा माध्यम है जो पढ़े लिखे लोगों तक ही सीमित है। परंतु सिनेमा एक ऐसा माध्यम है जो अनपढ़ लोगों को भी प्रभावित करता है। यही वजह रही कि किसी श्रेष्ठ साहित्यकार की श्रेष्ठ रचना की ओर सिनेमा प्रभावित हुआ और उस कथानक को पर्दे पर उतारा गया। यूं तो साहित्य विश्व की सबसे प्राचीन कला में से एक है और सिनेमा नवीनतम, फिर भी हिंदी साहित्य ने बार-बार हिंदी सिनेमा को प्रभावित किया है साथ ही समाज को।

पिछले कई दशकों से सिनेमा हमारे जीवन का हिस्सा बन गया है। सिनेमा एक ऐसा माध्यम है जिसका एक-एक दृश्य जन समुदायों की सुखद एवं दुखद भावनाओं को साकार करता है। सिनेमा जनसंचार का ऐसा प्रमुख माध्यम है जिसकी दर्शकों तक पहुंच बहुत ही आसान और सरल है। सिनेमा सूक्ष्म मानवीय संवेदनाएं, मानवीय व्यवहार के विभिन्न पहलुओं को चित्रात्मक शैली में अभिव्यक्त करने में सक्षम हैं। भारत में पहली फिल्म सन् 1913 में राजा हरिश्चंद्र नाम से बनी जो मुक थी। इन सौ वर्षों में सिनेमा हमारे जीवन का अभिन्न हिस्सा बन गया है। जिसमें

हिंदी साहित्य का बहुत बड़ा योगदान पाया जाता है। कई साहित्यकारों की साहित्यिक रचनाओं पर फिल्में बनाई गई है जैसे- प्रेमचंद की रचना 'गोदान', 'गबन','शतरंज के खिलाड़ी' आदि। फणीश्वर नाथ रेणु की कहानी 'मारे गए गुलफाम' पर 'तीसरी कसम', शरतचंद्र के उपन्यास पर एक नहीं दो नहीं तीन बार 'देवदास' फिल्म बनी, भगवती चरण वर्मा के 'चित्रलेखा' उपन्यास पर इसी नाम से फिल्म बनी, मन्नू भंडारी की कहानी 'यही सच है' पर बनी फिल्म 'रजनीगंधा', चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' पर इसी नाम से फिल्म बनी, महाश्वेता देवी की कृतियों पर 'रुदाली' 'हजार चौरासी की मां' जैसी फिल्में बनी। इसमें से कुछ फिल्में सफल रही तो कुछ असफल। कई बार साहित्यिक कृतियों पर जब फिल्में बनती है तब मूल आशय को छोड़कर कल्पना के आधार पर उसे तोड़ा मरोड़ा जाता है सुरेंद्रनाथ तिवारी लिखते हैं-"साहित्यिक कृतियों की विषय वस्तु को सिनेमा की भाषा में डालते समय कुछ परिवर्तन अवश्य हुए हैं किंतु उसकी साहित्यिक संवेदना को नष्ट नहीं किया गया।"[1] यहाँ साहित्यिक रचनाओं का पुर्नसृजन तो होता ही है साथ ही कल्पना का आधार लेकर उसे और मनोरंजक भी बनाया जाता है ताकि प्रेक्षक फिल्म देखते वक्त उब न जाए। बहु प्रचलित निर्देशक सत्यजीत राय का कथन है, " केवल उपन्यास या कहानी पर आधारित ऐसी कोई फिल्म आज तक निर्मित नहीं हुई है जिसमें निर्देशक को अपनी कल्पना का सहारा न लेना पड़ा हो "[2] इतने परिवर्तन के पश्चात भी आज साहित्य और सिनेमा का रिश्ता अटूट है।

सिनेमा को चर्चित और समृद्ध करने में साहित्यिक कृतियों का बहुत बड़ा योगदान रहा है। जैसे- विभूतिनारायण बंधोपाध्याय के उपन्यास 'पाथेर पांचाली' पर सन् 1955 में सत्यजीत रे ने बनाई फिल्म अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की थी। विमल राय ने रवीन्द्र नाथ टैगोर की कविता से कथानक लेकर 'दो बीघा जमीन', शरतचंद्र के उपन्यास पर

'परिणीता' और सुबोध घोष के 'सुजाता' उपन्यास पर 'बंदिनी' जैसी सफल फिल्मों का निर्माण किया है जिसमें तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों को प्रमुखता से उजागर करने का प्रयास किया गया है। साहित्य और समाज एक दूसरे के पूरक है; उनकी पूर्णता एक दूसरे को साथ लेकर चलने में है। साहित्य कहीं समाज का दर्पण, कहीं चित्र तो कहीं निर्देशक सा प्रतीत होता है। साहित्य समकालीन स्थितियों का अवलोकन और मूल्यांकन करता है फिर अपने ह्रदय और संवेदनाओं के साथ समाज सापेक्ष रचना करता है। इस संदर्भ में साहित्यिक निबंध में लिखा है,"कवि वास्तव में समाज की व्यवस्था, वातावरण, धर्म-कर्म, रीति-नीति तथा सामाजिक शिष्टाचार या लोकव्यवहार से ही अपने काव्य के उपकरण चुनता है और प्रतिपादन अपने आदर्शों के अनुरूप करता है, जिसमें वह जन्म लेता है। वह अपने समस्याओं का सुलझाव, अपने आदर्श की स्थापना अपने समाज के आदर्शों के अनुरूप ही करता है। जिस सामाजिक वातावरण में उसका जन्म होता है, उसी में उसका शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक विकास होता है।"[3] इस तरह साहित्यकार जिस समाज का अंग होता है उसी समाज का ही चित्रण साकार करता है।

साहित्य के पास सिनेमा की जरूरतों को पूरा करने के लिए अथाह भंडार है। भाव-दशा, पात्रों, दृश्यों, वास्तुकला, परिवेश और भावात्मक स्थितियों के दृश्यात्मक ब्यौरे हैं। साथ ही भाव-भंगिमा, ध्वनियों, शब्दों और संगीत के सूक्ष्म प्रभावों तक के विवरण साहित्य के पास मौजूद है। सुखद बात यह है कि साहित्य ने सिनेमा की मदद के लिए कभी कोताही नहीं की। सिनेमा को जब-जब जरूरत हुई साहित्य ने खुले मन से उसका सहयोग किया। यह बात और है कि आगे चलकर सिनेमा ने अपना खुद का एक लेखक वर्ग तैयार कर लिया जिसके आधार पर हजारों फिल्मों का निर्माण हुआ और सिनेमा साहित्य से दूर हुआ। इतने पर भी साहित्य ने सिनेमा को प्रभावित करने का कोई भी माध्यम नहीं छोड़ा

साहित्य और सिनेमा के रिश्ते को जोड़े रखने में दूरदर्शन की बड़ी भूमिका रही है। छोटे पर्दे के लिए फिल्मांकन की अपनी सीमाएँ होती है। 'सद्गति' (प्रेमचंद/सत्यजीत राय) और 'तमस' (भीष्म साहनी / गोविंद निहलानी) को छोड़कर कोई उल्लेखनीय चित्रांकन हमारे ख्याल में नहीं पड़ता। यों चंद्रकांता (देवकीनंदन खत्री) 'निर्मला' (प्रेमचंद), 'राग दरबारी' (श्रीलाल शुक्ल), 'कब तक पुकारूं' (रांगेय राघव), 'मुझे चांद चाहिए' (सुरेंद्र वर्मा) पर भी धारावाहिक फिल्मांकन हुआ है, अन्य अनेक कहानियों पर भी। प्रेमचंद की कहानियों पर तो गुलजार ने काम किया, लेकिन वह कहानियों का इस्तेमाल भर रहा। चंद्रधर शर्मा गुलेरी द्वारा लिखित 'उसने कहा था' कहानी हिंदी साहित्य जगत की अजरामर कृति है। इसमें उदात्त रूप से पवित्र प्रेम है जिसमें वासना की गंध तक नहीं। नायक प्रेमिका का वचन निभाने के लिए अपने प्राणों की आहुति देता है। इसी कथानक पर निर्देशक मौनी भट्टाचार्य ने सन् 1960 में इस कहानी पर सिनेमा बनाया। प्रस्तुत सिनेमा में मूल कहानी की हत्या कर कृत्रिम ता अपनाई गयी, जिससे कहानी का कथ्य विकृत रूप में दर्शकों के सामने आया। इस संदर्भ में महेंद्र मित्तल का कहना है," समग्रतः एक महान कहानी पर यह एक ऐसे अयोग्य निर्देशक का लक्ष्य भृष्ट चलचित्र है जिसके चित्रकरण के लिए उसे कभी क्षमा नहीं किया जा सकता। ये ही वे निर्देशक है जो हिंदी साहित्य को चलचित्रों के लिए अनुपयुक्त सिद्ध करते हैं।"[4] यहां निर्देशक ने मूल कहानी की आत्मा को त्याग कर कृत्रिम ता लाने का प्रयास किया है। यही वजह रही कि पाठक कहानी पढ़ने में जितना एकाकार होता है उतना सिनेमा देखते वक्त नहीं।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हिंदी सिनेमा ने प्रारंभ से ही प्रबोधनात्मक और परिवर्तनशील सामाजिक विचार धाराओं को सही दिशा दी है। स्वतंत्रता आंदोलन को गतिशील बनाने में, सामाजिक परिवर्तन की क्रांति लाने में, शांति का संदेश देने में, स्वातंत्र्य, समता और

बंधुता की भावना निर्माण करने में, सत्यं, शिवं और सुंदरम की भावना जगाने में अहम भूमिका निभाई है। परिणाम स्वरूप सिनेमा के बलबूते पर हिंदी भाषा को आज न केवल भारतीय वरन अंतरराष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में भी अपनी क्षमता दिखाने का अवसर प्राप्त हुआ है। सिनेमा की उपयोगिता और उपायुक्तता के बारे में डॉ.मुदिता चंद्रा ने कहा है कि,"व्यष्टि-समष्टि जीवन से संबंधित किसी भी विषय को महत्त्वपूर्ण बनाकर प्रतिष्ठित करना सिनेमा का गुणधर्म है। विषय के अभिन्न आयामों को उद्घाटित कर सिनेमा उसे चर्चा में लाता है, जिसके कारण समाज की दृष्टि उस पर जाती है और उसे उपयुक्त स्थान प्राप्त होता है।"[5] वास्तव में सिनेमा सिर्फ मनोरंजन का साधन नहीं है। वह शिक्षा का भी प्रभावी माध्यम है। लेकिन खेद इस बात का होता है कि भारतवर्ष में शिक्षा के लिए इसका प्रयोग जितना करना जरूरी था, उतना नहीं किया है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सिनेमा का साहित्य से अटूट रिश्ता है। सिनेमा में कथा है तो निश्चित ही वह साहित्य होगा। यह बात दूसरी है कि उसकी कथा को हम साहित्य माने या न माने, लेकिन सिनेमा ने अपने साहित्यकार, गीतकार, संवाद लेखक, पटकथा लेखक आदि विकसित कर लिए हैं। अक्षर विहीन समाज तक साहित्य को पहुंचाने का काम तथा समाज को जागृत करने का काम सिनेमा ने किया है।

**संदर्भ सूची :**


1) सुरेंद्रनाथ तिवारी- नया भारतीय सिनेमा, पृ. 29

2) चलचित्र: कल और आज (सिनेमा की संवेदना) - सत्यजीत राय, पृ. 125

3) साहित्य निबंध- राजनाथ शर्मा, पृ. 356

4) महेंद्र मित्तल- भारतीय चलचित्र, पृ. 449

5) विकलांग विमर्श का वैश्विक परिदृश्य, सं. डॉ. सुरेश माहेश्वरी, भावना प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2014, पृ. 679

2021 - 22

# 21वीं सदी और हिंदी कथा साहित्य

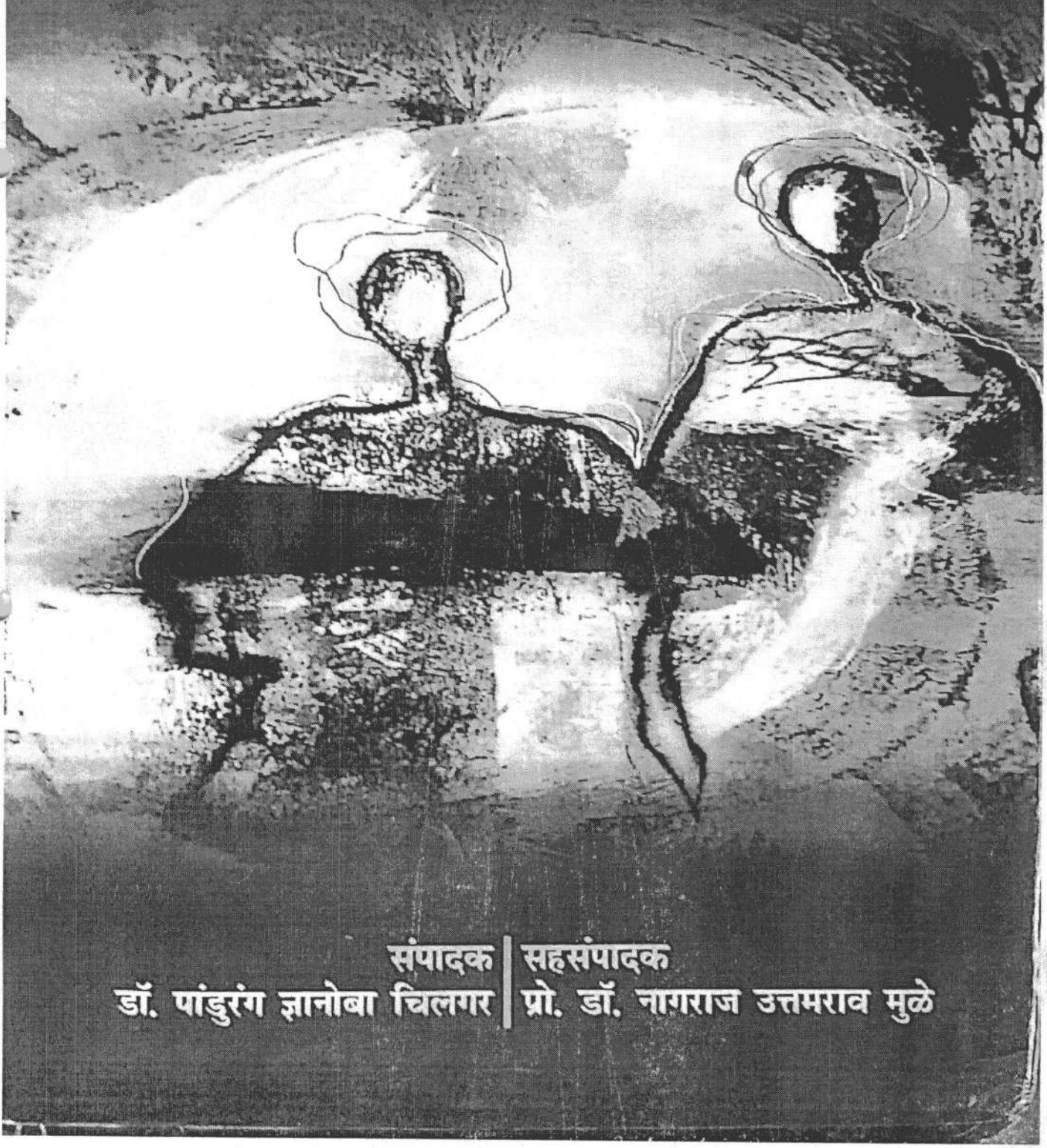

संपादक
डॉ. पांडुरंग ज्ञानोबा चिलगर

सहसंपादक
प्रो. डॉ. नागराज उत्तमराव मुळे

# 15

# 21वीं सदी के हिंदी उपन्यास साहित्य में स्त्री विमर्श

प्रा. अमर आनंद आलदे

21वीं सदी में 'स्त्री विमर्श' अनेक और सशक्त रूपों को लेकर चला है। स्त्री विमर्श पुरुषों के विरुद्ध आंदोलन नही है न ही उनसे प्रतिस्पर्धा करने की चेष्टा है। स्त्री विमर्श स्त्री को स्त्री रूप में ही बनाये रखने की विचारणा है। स्त्री विमर्श में नारी सशक्तिकरण, नारी सबलीकरण, नारी मुक्ती जैसे कई प्रवाह भी एक साथ चल पड़े, जिससे न सिर्फ हमारा समाज बल्कि साहित्य भी प्रभावित होता गया। परिणामः हमारे समाज और साहित्य ने महिला सबलीकरण के नाम पर सशक्त और नये समाज की तस्वीर बनाने का प्रयास किया। मूलतः स्त्री विमर्श नारी की खोज करते हुए उसे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक स्वतंत्रता के साथ उसे मानव के रूप में जिने लायक वातावरण बनाना है। हमारी व्यवस्था में नारी के पुरुषीकरण की संकल्पना जड पकड़ती गई और इसे रोकने की कोशिश भी हुई। हमारी व्यवस्था ने हजारों वर्षों से नारी के स्वतंत्र अस्तित्व को नकारा है। समाज द्वारा जब लैंगिक सुचिता को महत्त्व दिया गया, तब इस नियम बने विचार के कारण नारी के लैंगिक स्वातंत्र्य पर बाधाएँ आती गयी। पर ऐसे नियम पुरुषों पर नहीं लगाए गये। नारी की पहचान का आधार किसी न किसी रूप में पुरुष को ही बनाया गया। स्त्रीवादी साहित्य स्त्री को बहन, बेटी, बीवी और रखैल की कोटी से बाहर निकाल कर उसे एक मानव के रूप में स्थापित करता है। आज जब स्त्रीवाद की संकल्पना सामने आई तो नारी की दृष्टी से इस संसार को देखा जाने लगा। हिंदी कथा साहित्य के माध्यम से हमें इसी विषय पर चर्चा करनी है।

हम पुरुष साहित्यकारों ने उसकी कमीयों और कमजोरीयों के साथ उसका मूल्यांकन करते हैं, किन्तु नारी को हम संपूर्णता में नही देख पाते। हमारी परंपरागत सोच ने नारी को दो हिस्सों में बांट दिया है– कमर से ऊपर की नारी और कमर से नीचे की औरत। कमर से ऊपर की नारी महिमामयी है,

Scanned with OKEN Scanner

करुणा भरी है, सुंदरता और शील की देवी है और कमर से नीचे वह कन्दरा है, कुत्सित और अश्लील है, ध्वंसकारिणी है, राक्षसी है और सब मिलाकर नरक है। इसी कुदृष्टी की तहत नारी को बार–बार प्रताड़ित होना पड़ता है, अपमानित होना पड़ता है। नारी की पहचान का आधार किसी न किसी रूप में पुरुष को ही बनाया गया। आज जब स्त्री–वाद की संकल्पना सामने आई, तो नारी की दृष्टि से इस संसार को देखा जाने लगा। इसके पहले भी नारी मन की परतों को सुलझाने का प्रयास हुआ है, किंतु नारी जीवन की विडंबनाओं, विसंगतियों का जितना सशक्त चित्रण नारी लेखिका दे सकती है, उतना पुरुष नहीं, क्योंकी उन स्थितियों की नारी स्वयं भुक्तभोगी है। इस संदर्भ में महादेवी वर्मा का मानना है कि," पुरुष के द्वारा नारी का चित्रण अधिक आदर्श बन सकता है परंतु अधिक सत्य नहीं। विकृती से अधिक निकट पहुंच सकता है, परंतु यथार्थ के अधिक समीप नहीं। पुरुष के लिए नारी अनुमान है, परंतु नारी के लिए अनुभव। अतः अपने जीवन का जैसा सजीव चित्र वह हमें दे सकेगी वैसा पुरुष बहुत साधना के उपरांत भी शायद ही दे सकेंगे।"1 यहाँ महादेवी वर्मा बताना चाहती है कि नारी की व्यथा स्वयं नारी ही समझ सकती हैं, पुरुष नहीं।

'हरीसुमन विष्ट' द्वारा लिखित 'आछरी माछरी' नामक उपन्यास में स्त्रीयों के शोषण का चित्रण हुआ है। आछरी–माछरी' उपन्यास के माध्यम से शेटिया–महाल में रहने वाले खानाबदोश जनजाति की एक लड़की की कथा को आधार बनाकर हिमालय के पहाड़ों तथा बुग्यालों में रहने वाले भाटिया जनजाति की कथा को व्यक्त किया है। उपन्यास की नायिका 'आछरी' गाँव की प्रधान है पर वह अपनी जडों को नहीं भुलती। अपने पद को अपनी जाति, समाज व स्त्रियों के उत्थान में ही लगाती है। जिसके लिए उसे कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। संपूर्ण स्त्रियों की पीडा को व्यक्त करते आछरी कहती है कि–

"वैसे भी दुनिया के दस्तूर हैं बेटे वे मुझ जैसी औरत को ही नहीं दुनिया की हर औरत को दिन के उजाले की अपेक्षा रात के अंधेरे में देखना पसंद करते हैं। ताकि हर औरत का रास्ता एक अंधेरी गुफा की तरफ ही चलता चला जाए।"[2] नारी कभी समाज में उभरकर ना आए और नाही पुरुष के खंदे से खंदा मिलाकर आगे बढ़ती रहे। पुरुषी मानसिकता जब तक स्त्री के प्रति श्रद्धेय नहीं होगी तव तक समाज में उसका शोषण होता रहेगा।

अनामिका कृत उपन्यास 'दस द्वारे का पिंजरा' स्त्री मुक्ति के अनकहे मुद्दों के साथ जोड़कर नई व्याख्या की मांग करता है। उपन्यास दो खंडो में विभाजित है। प्रथम खंड पंडिता रमाबाई और दूसरा ढेलाबाई के जीवन संघर्ष की कथा है जो स्त्री विमर्श की परत–दर–परत खोलते हुए एक कोलॉज बनाता है। वेश्या व्यवसाय करने वाली महिलाओं पर लिखा उपन्यास 'दस द्वारे

Scanned with OKEN Scanner

का पिंजरा' अपनी सहपाठीनी मासुमा नाज की व्यथा को बयां करने वाला है। लेखिका ने अपनी सहपाठिन मासूमा नाज को वेश्याओं के मोहल्ले में पाँव में घुंघरु बांधे सज–धज कर खड़ी देख लिया। दोनों की नजरें आपस में टकराती हैं, उसके बाद मासूमा नाज कभी स्कूल नहीं आई। अनामिका सोचती है कि "आज इतने बरस बाद भी उन आँखों की दहशत मुझे ऊपर से नीचे तक दहला जाती है पूरी रफ्तार में नाचते पंखे से टकराकर गौरेय जैसे कट कर गिरती है, कुछ उसकी आँखों में फड़फड़ाया और एक एकदम से कट गिरा। अगर मेरी आँखें उस दिन मासूम रजा से नहीं मिलतीं, तो यह स्वाभिमानी लड़की स्कूल नहीं छोड़ती।"[3] इस घटना के लिये लेखिका स्वंय को जिम्मेदार मानती है। मासूम का दर्द लेखिका के लिए नासूर बनता है।

प्रस्तुत उपन्यास की नायिका ढेलाबाई तथा रमाबाई है। क्रमशः एक वेश्या है तो दूसरी विदुषी। रमाबाई का जीवन संघर्षमयी रहा है। उन्होंने विधवाओं को सहारा दिया और उन्हें शिक्षित करके आत्मनिर्भर बनने की शक्ति दी। दोनों स्त्रीमुक्ती आंदोलन के साथ क्रांतिकारी आंदोलन से जुड कर अपना जीवन सार्थक बनाती है। कोठा हो या कोठी एक वेश्या का जीवन कितना दर्द भरा होता है उसे बयां करते ढेलाबाई कहती है– "मिश्रा जी, मेरी स्थिति जरा भी नहीं बदली। जो मैं पहले थी अब भी हूँ। रण्डी की बेटी जिसे कोई कुछ भी कह सकता है, जिसके साथ कभी भी, किसी भी समय दरवाजा धकिया कर घुस सकता है भीतर। सामने पान की दुकान है। कोई खण्डर की दिवार से पूछकर तो पीक नहीं फेंकता उस पर। मैं हूं वह दीवार। हर रण्डी वही दीवार है कोठे पर हो चाहे कोठी में।"[4] ढेलाबाई तथा रमाबाई दोनो जानती हैं कि स्त्री मुक्ती से ही समाज में परिवर्तन हो सकता है। आखिर कब तक पुरुष स्त्री को सिर्फ एक मादा मानते रहेंगे। यही वजह रही की दोनों स्त्री मुक्तीके लिए प्रयास करती है।

'द पब्लिक एजेंडा' में नामवर सिंह ने कहा है, "दस द्वारे का पिंजरा' इस उपन्यास के नाम में गहरा संदेश है। दस द्वारे का पिंजरा कबीर से लिया गया है। पाँच ज्ञान्द्रियाँ और पाँच कर्म इन्द्रियाँ मिलकर शरीर के दस द्वार बनते हैं, जिसमें आत्मा बसती है। इस तरह स्त्री की मुक्ति केवल बुद्धि की मुक्ति नहीं होती, केवल हृदय की मुक्ति नहीं होती, बल्कि तमाम इन्द्रियों की मुक्ति भी होती है। देह भी बंधन है और उससे मुक्ति ही पूर्ण मुक्ति है।"[5]

21वीं सदी के उपन्यासों में नारी शोषण के साथ–साथ उनके संघर्षों को भी उजागर किया गया है। आज की नारी, पुरुषों के अन्याय व अत्याचार को चुपचाप सहन नहीं करती वह तो उनका कड़ा प्रतिरोध करती है। यद्यपि ग्रामीण औरतों में अभी भी शिक्षा की कमी है पर पढ़ी–लिखी स्त्रियां उन्हें शिक्षित करने के लिए आगे आ रही हैं। स्त्रियां आज न केवल गांवों की मुखिया

Scanned with OKEN Scanner

बल्कि उच्च अधिकारी भी बन रही हैं। जिससे उनमें नेतृत्व क्षमता भी बढ़ती है और वे अन्य स्त्रियों को भी इसके लिए प्रेरित करती हैं।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि आज की नारी ने अपनी शक्ति पहचान ली है। आज वह राष्ट्र निर्माण में महत्वपूर्ण हिस्सेदारी निभा रही है। लेकिन यह संख्या अत्यल्प है। नारियों के अधिकारों की रक्षा के लिए महान उत्तरदायित्व का निर्वाह उन प्रबुद्ध स्त्रियों को करना होगा जिन्होंने समाज में अपना विशिष्ट स्थान बनाने में सफलता प्राप्त की है। स्त्री–विमर्श की स्त्री शोषण से मुक्ति चाहता है, ताकि वह स्वतंत्र ढंग से जी सके और सोच सके। साथ ही वह पूर्ण स्वाधीन हो और समाज की निर्णायक शक्ति भी।

## संदर्भ


1. श्रृंखला की कडियॉं, महादेवी वर्मा, पृष्ठ– 59
2. हरिसुमन विष्ट, ' आछरी – माछरी, पृष्ठ – 104
3. अनामिका, दस द्वारे का पिंजरा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ– 06
4. वहीं, पृष्ठ–206
5. वहीं, पृष्ठ– 62



नवगण कला एवं विज्ञान महाविद्यालय, चौसाला,
ता.जि.बीड
मेल : ldemr3@gmail.com


Scanned with OKEN Scanner

2021-22

# पुण्यश्लोक अहिल्यादेवी होलकर
# जीवन और कार्य


**मुख्य संपादक**
प्राचार्य डॉ. वसंत बिरादार
**संपादक**
डॉ. पांडुरंग चिलगर
**उपसंपादक**
प्रो. डॉ. नागराज मुळे

Scanned with OKEN Scanner

# 6

# अहिल्याबाई होलकर नारी सम्मान की गाथा

डॉ. अमर आनंद आलदे

"नारी का सम्मान करो
मत उसका अपमान करो
नारी तो है अपराजिता।"

अनेक महापुरूषों के निर्माण में नारी का प्रत्यक्ष या परोक्ष योगदान रहा है। कहीं नारी प्रेरणा–स्रोत तथा कहीं निरन्तर आगे बढ़ने की शक्ति रही है। भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही नारी का महत्व स्वीकार किया गया है। हमारी संस्कृति का आदर्श सदैव से रहा है कि जिस घर नारी का सम्मान होता है वहाँ देवता वास करते हैं।

**"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।**
**यत्रतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्रफलाः क्रिया।"[1]**

ऋग्वेद काल में स्त्रियाँ उच्चशिक्षित थी, उच्चपदस्थ थी, विदुषी थी तब परिवार की सारी जिम्मेदारी स्त्री के कंधों पर थी। वैदिक काल में पारिवारिक स्थिती मातृसत्ताक थी। परिवार के सारे अधिकार स्त्रियों के पास थे। पर जैसे–जैसे समय बदलता गया और पुरुष वर्ग ने धीरे–धीरे मातृ सत्ता से सारे अधिकार छिन लिए। वर्तमान की बात करें तो आज पितृसत्ताक समाज देखने को मिलता है। जहाँ स्त्री समानता की बात होती तो है पर वह अधिकार एवं सम्मान उसे मिलता नहीं। इन्हीं सम्मान को पाने के लिए हमें अहिल्या जैसी विदुषी के जीवन से प्रेरित होना होगा।

अहिल्या बाई होलकर के जीवन को महानता के शिखर पर पहुंचाने में उनके ससुर मल्हार राव होलकर की मुख्य भूमिका रही है। पति की मौत के बाद अहिल्या ने सती होने का फैसला किया तो उनके ससुर मल्हार राव ने उनको सती होने से न सिर्फ रोका बल्कि बहू को राज्य की बागडोर सौंपने का मन बना लिया। तब अहिल्या ने भी सती प्रथा के खिलाफ आवाज बुलंद करते हुए कहा– " मेरी मृत्यु हो जाने पर मुझे सुख मिलेगा, पर मेरे जीवित रहने पर लाखों प्रजाजनों को सुख मिलेगा।"[2]

धार्मिक पाखंड के खिलाफ यह उनका पहला विद्रोह था। अहिल्या धार्मिक रूप से सहिष्णु थीं, हिन्दू धर्म की उपासिका होने के बावजूद भी वे मुस्लिम धर्म

Scanned with OKEN Scanner